तीनों गुप्तियां तो निवृत्तिरूप हैं भले ही शुद्ध आत्मा का अनुभव कर रहे गुप्तिधारी संयमी को अभ्यंतर पुरुषार्थ द्वारा अन्तरात्मा में अनेक प्रवृत्तियां करनी पडें जो कि अत्यावश्यक हैं। किन्तु गुप्तियों को पाल रहे मुनि के बहिरंग में मन, वचन, काय, की कोई प्रवृत्ति नहीं होती है। जैसी कि समितिधारी की शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति हो रही है समिति वाले की अपेक्षा गुप्तिवाले संयमी की अन्तरात्मा में प्रवृत्तियां अधिक है, जो कि स्वसंवेद्य हैं। तभी तो बहिरंग कार्यों में योगों की परिपूर्ण निवृत्ति हो रही है। बात यह है कि सुख निद्रा ले रहे जीव की बहिरंग प्रवृत्तियां बहुभाग रुक गयी हैं। किन्तु अन्तरंग में पाचन, नीरोग होना धातु, उपधातु, मल, सूत्र बनाना आदि क्रियायें जागृत दशा से अत्यधिक हो रही हैं। महारोगी जीव बहिरंग में मूर्छित (बेहोश) हो जाता है, कोई क्रिया नहीं करता दीखता है। किन्तु अंतरंग में शरीरप्रकृति अनुसार बडी क्रियायें कर रहा है, तभी तो शरीर-रक्तशोषण, कफवृद्धि, आदि कार्य हो जाते हैं, क्षयरोगवाले की हड्डियां पीली पड जाती हैं, घुन जाती हैं, यह क्या छोटा कार्य है? संग्रहणीवाले को शरीर की धातुओं, उपधातुओं, को मल बनाना पडता है यह थोड़ा कार्य नहीं है। कोई नीरोग देखें घोर प्रयत्न से भी अपनी हड्डियों में हजारों लाखों छेद कर ले, तब तो यह सुलभ कार्य माना जाय। आचार्य कहते हैं कि ये पांच ईर्या,भाषा आदिक समितियां तो समीचीन प्रवृत्तियां मानी गयीं हैं। गुरुपरंपरा से ऐसा ही स्मरण किया जा रहा चला आ रहा है। असंयम परिणामों से उत्पन्न हो रहे आस्रव का इन पांच समितियों करके निरोध हो जाता है (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन समितियों को उस आस्रव का विपक्षपना निर्णीत है (हेतु) इस कारण समिति पालने में समीचीन प्रवृत्ति कर रहे संयमी यतियों के यथायोग्य एकदेश करके संवर हो जाता है (निगमन)। अर्थात् व्यवहार में भी देखा गया है कि जो विद्यार्थी या भला पुरुष दूसरे व्यापार, कृषि, आदि कार्यों से व्युपरत रहते हैं वे अध्ययन, पूजन, ध्यान आदि शुभ प्रवृत्तियों को करते हुये उन व्यापार आदि से उपजनेवाली आकुलताओं का संवरण कर लेते हैं।

अथ धर्मप्रतिपादनार्थमाहः —

अब सूत्रकार महाराज समितियों का निरूपण कर चुकने पर विनीत शिष्यों को संवर के तीसरे हेतु माने गये धर्म की प्रतिपत्ति कराने के लिये अगिले सूत्र को स्पष्ट कह रहे हैं।

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तमशौच, उत्तमसत्य, उत्तमसंयम, उत्तम तपः, उत्तमत्याग, उत्तम आकिंचिन्य, उत्तमब्रह्मचर्य, यों दश प्रकार धर्म है। भावार्थ— "वत्थुसहावो धम्मो" धर्म का प्रसिद्धलक्षण वस्तु का स्वभाव है। अतः ये उत्तम क्षमा आदिक सभी आत्मा के तदात्मक स्वभाव हैं। सिद्ध अवस्था में भी ये पाये जाते हैं तभी तो "ॐ ह्रीं परमब्रह्मणे उत्तमक्षमाधर्माङ्गाय नमः" "ॐ ह्रीं परमब्रह्मणे उत्तममार्दवधर्माङ्गाय नमः" "ॐ ह्रीं परमब्रह्मणे उत्तम आर्जवधर्माङ्गाय नमः" इत्यादि मन्त्र सुघटित होते हैं। शुद्ध आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म है। जैसे सुखप्राप्ति चरमफल है, उसी प्रकार परिपूर्ण उत्तमक्षमा आदिक भी चरम फल हैं। जबतक ये परिपूर्ण नहीं होय तबतक इनके प्रतिपक्षी माने गये क्रोध आदि विभावों में दोषों की विचारणा करते हुये जीव के उत्तम क्षमा आदि की तत्परतारूप तादात्म्य परिणति हो जाने से कर्मों का संवर हो जाता है। द्वंद्वसमास के आदि में पडा हुआ उत्तमपद दशों शब्दों में अन्वित कर लिया जाता है।

प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं धर्मवचनं, क्रोधोत्पत्तिनिमित्तविषह्याक्रोशादिसंभवे कालुष्याभावः क्षमा। जात्यादिमदावेशाद्यभिमानाभावो मार्दवं, योगस्यानक्रतार्जवं, प्रकर्षप्राप्तलोभनिवृत्तिः शौचं, गुप्तावन्तर्भाव इति चेन्न, तत्र मानसपरिस्पन्दप्रतिषेधात्। आकिंचन्येऽवरोध इति चेन्न तस्य नैर्मम्यप्रधानत्वात्। तच्चतुर्विधं शौचं ततोऽन्यदेव। कुत इति चेत्, जीवितारोग्येन्द्रियोपभोगभेदात् तद्विषयप्राप्तप्रकर्षलोभनिवृत्तेः शौचलक्षणत्वात्।

केवल आत्मीय भावों में रमण करते हुये मुनि के बहिरंग में सर्वथा प्रवृत्तियों का निग्रह करने के लिये गुप्तियां हैं। उन परमोत्कृष्ट गुप्तियों की प्रयतना करने में असमर्थ हो रहे व्रतियों को प्रवृत्ति का उपाय दिखलाने के लिये समितियों का उपदेश है। यह फिर दश प्रकार के धर्मों का निरूपण करना तो प्रवृत्ति कर रहे संयमी के प्रमाद का परिहार करने के लिये है। क्रोध को उत्पत्ति के निमित्तकारण हो रहे दुष्ट जनों के विशेषतया नहीं सहन करने योग्य गाली देना, उपहास करना, निन्दा करना, ताड़ना, शरीर विघात कर देना आदि कार्यों का प्रकरण सम्भव हो जाने पर कलुषता नहीं करना क्षमा है। प्रकृष्ट जाति, कुल, विज्ञान, ऐश्वर्य, के होते हुये भी उनके द्वारा किये गये मद के आवेश, प्रभुता, आदि अभिमानों का पुरुषार्थ द्वारा अभाव कर डालना मार्दव है। मन, वचन, काय सम्बन्धी योग की वक्रता नहीं रखना आर्जव है। लोभ की प्रकर्षता को प्राप्त हो रही निवृत्ति का करना या वृद्धि को प्राप्त हो रहे लोभ का त्याग कर देना शौच धर्म है। यहाँ कोई शंका करता है कि निवृत्ति स्वरूप मनोगुप्ति में लोभनिवृत्ति स्वरूप शौच का

अन्तर्भाव हो जायगा। शौच का पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो न कहना। कारण कि उस मनोगुप्ति में मन से हुये संपूर्ण परिस्पन्द का प्रतिषेध किया जाता है। जो मनोगुप्ति को नहीं कर सकते हैं वे अन्य वस्तुओं में मन को न लगावें, शुद्ध रक्खें, इसलिये यह शौचधर्म कहा गया है। पुनः कोई कहे कि शौच का आकिंचन्य धर्म में गर्भ हो जायगा लोभ का त्यागी हो आकिंचन्य को पालता है, वही शौचधर्म को धारेगा। ग्रन्थकार कहते हैं यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस आकिञ्चन्य धर्म में ममत्वरहित परिणामों की प्रधानता है। अपने शरीर इन्द्रिय आदि में ममत्वपूर्वक संस्कार, प्रमोद आदि का निवारण करने के लिये आकिंचन्य माना गया है। शौच में मानसिक पवित्रता अभीष्ट है। वह चारों प्रकार का शौच उस आकिंचन्य धर्म से न्यारा ही है। किस प्रकार से वह विभिन्नता है? ऐसी जिज्ञासा उपजने पर तो आचार्य कहते हैं कि देखिये, जीवित रहने का लोभ, रोगरहित बने रहने का लोभ, इन्द्रियों का लोभ और उपभोग करते रहने का लोभ, इन भेदों से लोभ चार प्रकार का है। उन जीवित आदि के विषयरूप से प्राप्त हो रहे पदार्थों में बढे हुये लोभ की निवृत्ति कर देना यह शौच का सिद्धान्तलक्षण आम्नाय-प्राप्त है, यों स्पष्ट अन्तर है।

सत्सु साधुवचनं सत्यं। भाषासमितावन्तर्भाव इति चेन्न, तत्र साध्वसाधुभाषा व्यवहारे हितमितार्थत्वात्, अन्यथानर्थप्रसंगात्। अत्र बह्वपि वक्तव्यं। न भाषादिनिवृत्तिः संयमो गुप्त्यन्तर्भात्। नापि कायादिप्रवृत्तिविशिष्टासंयमः, समितिप्रसंगात्। त्रसस्थावरवधात् प्रतिषेध आत्यंतिकः संयमः इति चेन्न, परिहारविशुद्धिचारित्रेतर्भावात्। कस्तर्हि संयमः? समितिषु वर्तमानस्य प्राणेन्द्रियपरिहारः संयमः, अतोपहृतसंयमभेदसिद्धिः। संयमो हि द्विविधः, उपेक्षासंयमो अपहृतसंयमश्चेति। देशकालविधानस्य परानुरोधनोत्सृष्टकायस्य त्रिधागुप्तस्य रागद्वेषानभिषंगलक्षण उपेक्षासंयमः। अपहृतसंयमस्त्रिविध उत्कृष्टो मध्यमो, जघन्यश्चेति। तत्र प्रासुकवसत्याहारमात्रबाह्यसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकरणस्य बाह्यजन्तूपनिपाते सत्यप्यात्मानं ततोपहृत्य जीवान् परिपालयत उत्कृष्टः, मृदुना प्रमृज्य जन्तूनपहरतो मध्यमः, उपकरणान्तरेच्छया जघन्यः।

सज्जनपुरुषों में निर्दोष साधुवचन बोलना सत्य धर्म है। यहाँ कोई शंका उठाता है कि भाषासमिति में हित, मित, सत्य वचन बोलने का अन्तर्भाव हो जाता है पुनः यहां धर्मों में सत्य का ग्रहण व्यर्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। कारण कि वहां भाषासमिति में तो साधु या असाधु पुरुषों में भाषा का व्यवहार करने

पर हित और मित बोलना प्रयोजन है भाषासमितिवाला मुनि सज्जन, दुर्जनों के साथ बोल सकता है किन्तु उनके हितस्वरूप परिमित बात कहेगा अन्यथा अधिक बोलने पर अनर्थदण्ड दोष का प्रसंग लग जायगा, परन्तु यहाँ सत्यधर्म में केवल सज्जन अथवा उनके भक्तों के साथ वचनव्यवहार रखना अभीष्ट है ज्ञान अथवा चारित्र की शिक्षा देने में बहुत भी बोल सकता है अतः भाषासमिति से सत्य धर्म न्यारा ही है। अब सत्यधर्म के पश्चात् संयम का निरूपण करना न्याय प्राप्त है कोई पण्डित संयम का लक्षण यदि यों करे कि बोलने, व्यर्थ विचारने आदि की निवृत्ति हो जाना संयम है ग्रन्थकार कहते हैं कि यह लक्षण ठीक नहीं पड़ेगा; कारण कि निवृत्ति करने में तत्पर तो गुप्तियाँ हैं अतः गुप्तियों में अन्तर्भाव हो जाने से संयम कोई गुप्ति से न्यारा नहीं ठहर सकता है। यदि कोई यों कहे कि काय, वचन, आदि की विशिष्ट यानी शुभ प्रवृत्ति करना संयम है सो भी ठीक नहीं जंचेगा। क्योंकि यों तो संयम को समिति हो जाने का प्रसंग आ जावेगा समिति से भिन्न कोई संयम नहीं सिद्ध हो पायेगा। पुनरपि कोई संयम का लक्षण यों करता है कि त्रस जीवों और स्थावर जीवों की हिंसा का अत्यन्त अवस्था को प्राप्त हुआ परित्याग कर देना ही संयम है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी तो ठीक नहीं है क्योंकि जीवों की हिंसा का निषेध तो परिहार विशुद्धि नाम के चारित्र में गर्भित हो जाता है अतः ऐसे संयम का ग्रहण करना व्यर्थ पड़ जायगा, तब तो फिर संयम का लक्षण महाराज तुम्हीं बताओ, क्या है? ग्रन्थकार उत्तर करते हैं कि ईर्यासमिति आदि में प्रवर्त रहे मुनि के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की पीडा का परिहार करना प्राणिसंयम है, और इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों में रागभाव नहीं करना इन्द्रिय संयम है ऐसा कर देने से अपहृत नामक संयम के भेद की सिद्धि हो जाती है। बात यह है कि उपेक्षासंयम और अपहृतसंयम इस प्रकार संयम के दो भेद हो हैं। देश, काल की विधि को जानने वाले और जिन्होंने दूसरों के उपरोध करने में सर्वथा शरीर का व्यापार छोड रक्खा है तथा मन, वचन, काय तीनों रूपों से गुप्तियों को धारण कर रहा है ऐसे मुनि का किसी भी विषय में राग, द्वेष का प्रसंग नहीं लगना यह तो पहिले उपेक्षासंयम का लक्षण है। यह संयम सर्वोत्कृष्ट है। दूसरा अपहृत संयम तो उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य यों तीन प्रकार है। उन में उत्कृष्ट तो उस मुनि के संभवता है जो जीव रहित प्रासुक वसतिका (निवासस्थान) और शुद्ध आहार लेना केवल इतने ही बाह्य साधन को रखते हैं और ज्ञान आराधना करना, चारित्र पालना, इन्द्रियों को वश में रखना ये सब जिनके स्वाधीन हैं बहिरंग में प्राणियों का प्रसंग प्राप्त हो जाने पर भी अपने को उन जीवों से सर्वथा बचाकर जीवों का रक्षा कर रहे मुनिमहा-

राज हैं यों इन्द्रियसंयम प्राणिसंयम को पाल रहे मुनि के उत्कृष्ट अपहृत संयम हैं। दूसरा मध्यम अपहृतसंयम उस मुनि के होता है जो कोमल उपकरण (पिच्छिका) से शुद्धकर जीवों का परिहार कर रहे हैं, तीसरा जघन्य अपहृत संयम तो अन्य प्रमार्जक वस्त्र, तृण, आदि उपकरणों की इच्छा करके जीवों को रक्षापूर्वक हटाकर स्थानशुद्धि करने वाले संयमी के होता है।

तत्प्रतिपादनार्थः शुद्धयष्टकोपदेशः। भावशुद्ध्यादयोऽष्टौ शुद्धयः। तत्र भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपद्लवरहिता, तस्यां सत्यामाचारः प्रकाशते परिशुद्धभित्तिगतचित्रकर्मवत्। कायशुद्धिः निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमलधारिणी निराकृतांगविकारा सर्वत्र प्रयतवृत्तिः प्रशमसुखं मूर्तिमंतमिव प्रदर्शयन्ती, तस्यां सत्यां न स्वतोऽस्य भयं उपजायते नाप्यन्यतस्तस्य कारणाभावात्।

उस अपहृत संयम की प्रतिपत्ति कराने के लिये आठ शुद्धियों का उपदेश समझ लेना चाहिये। भावशुद्धि, कायशुद्धि, आदिक आठ शुद्धियां हैं उन आठ शुद्धियों में पहिली भावशुद्धि तो कर्मों के क्षयोपशम से उपजी और मोक्षमार्ग के उपयोगी श्रद्धान द्वारा हुई प्रसन्नता को धारण कर रही तथा रागद्वेष आदि उपद्रवों की आकुलता से रहित हो रही है। उस भावशुद्धि के हो जाने पर आचरण का अच्छा प्रकाश हो जाता है जैसे कि बढिया शुद्ध कर ली गई भींत पर प्राप्त हुई चित्रणक्रिया (चित्रलिखना) अच्छी प्रकाशित हो जाती है। दूसरी कायशुद्धि तो मुनिराज की वह है जो कि मुनिमहाराज की काय सभी वस्त्र, छाल आदि आवरणों और कटक, केयूर, कुण्डल आदि भूषणों से रहित है, मुनि के काय में न्हाना, धोना, बाल काढना, मंजन, तेल, उबटन लगाना आदि शारीरिक संस्कारों का आजन्म त्याग कर दिया गया है। उत्पन्न हुये छोटे बच्चों का शरीर जैसे मलों को धारण कर लेता है कोई रागद्वेष विकार नहीं होता है, उसी प्रकार मुनि का शरीर भी बच्चे के समान मलों को ग्लानिरहित धारे रहता है। अगों का मटकना, ऐंडना, उत्थान हो जाना आदि विकारों का निराकरण कर चुका मुनिशरीर है। सभी स्थानों पर सोने, बैठने, खडे होने आदि में मुनिशरीर की वृत्ति बढिया यत्नाचार पूर्वक रहती है। मूर्ति के समान प्रशान्ति सुख को अच्छा दिखला रही मुनि की काय है अर्थात् मुनि महाराज के शरीर को देखकर ऐसा भान होता है कि अतीन्द्रिय प्रशम सुख ही मानू मूर्ति को धारण कर विराज गया है। मुनि की यह उपर्युक्त शरीरावस्था ही कायशुद्धि है। उस कायशुद्धि के हो जाने पर इस मुनि के न तो अपने से भय उपजता है और अन्य शस्त्र, शत्रु, घातकपशु

आदि से भी उस मुनि के भय नहीं उपजता है। क्योंकि उस भय का कारण ही नहीं रहा है। संसार में भय के कारण भूषण, वस्त्र, संपत्ति, कुटुम्ब, शरीर इनमें व्यामोह आदिक हैं, जिनका कि संयमी साधु सर्वथा त्याग कर चुका है। सम्यग्दृष्टि जीव ही भयों से रहित है फिर सकलसंयमी की तो बात ही क्या है।

विनयशुद्धिः अर्हदादिषु परमगुरुषु यथार्हपूजाप्रवणाज्ञानादिषु च यथाविधि भक्तियुक्ता गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्तिः प्रश्नस्वाध्यायवाचनाकथाविज्ञापनादिषु प्रतिपत्तिकुशला देशकालभावावबोधनिपुणा सदाचार्यमतानुचारिणी, तन्मूलाः सर्वसंपदः। ईर्यापथशुद्धिः नानाविधजीवस्थानयोन्याश्रयावबोधजनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडा ज्ञानादित्यस्वेंद्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनो द्रुतविलंबितसंभ्रान्तविस्मितलीलाविकारदिगंतरावलोकनादिदोषविरहितगमना तस्यां सत्यां संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इति सुनीतौ।

संयमी की विनयशुद्धि तो इस प्रकार है कि अर्हत्परमेष्ठी, सिद्धपरमेष्ठी आदि परमोत्कृष्ट गुरुओं में यथायोग्य भावपूजा करने की तत्परता बनी रहना तथा ज्ञान आदि अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, उपचार इनमें शास्त्रोक्त विधिअनुसार भक्तियुक्त रहना और गुरु के साथ सभी स्थानों पर अनुकूल प्रवृत्ति रखना विनयशुद्धि है, तथैव प्रश्न करना, स्वाध्याय करना, वाचना, कथाओं को समझाना, तीन लोक का स्वरूप समझना, नौ पदार्थों की प्रतीति करना इत्यादिक में श्रद्धापूर्वक कुशल बने रहना विनयशुद्धि है। देश काल और भावों का ज्ञान कराने में निपुण हो रही तथा श्रेष्ठ आचार्यों के मत के अनुकूल चलनेवाली विनयशुद्धि है। उस विनयशुद्धि को मूल कारण मान कर ही सम्पूर्ण ज्ञान आदि सम्पत्तियां उपज जाती हैं। चौथी ईर्यापथ शुद्धि का विवरण यों है कि चौदह, उनईस, सत्तावन, अट्ठानवे आदि अनेक प्रकार के जीवस्थानों तथा नौ, चौरासी लाख, आदि योनिस्थानों के परिज्ञानों से उत्पन्न हुये दयापूर्ण प्रयत्न करके जिसमें जन्तुपीडा का परिहार किया जा चुका है ऐसी ईर्यापथशुद्धि है। भूमिका निरीक्षणकर चलना ईर्या है। ईर्याके मार्ग में जीवों को बाधा न पहुंचे ऐसे अनेक ज्ञान या प्रयत्नों द्वारा ईर्यापथ शुद्धि की जाती है। जैन सिद्धान्त में ज्ञान का प्रकाश सर्व प्रकाशों में प्रधान माना गया है। अतः ज्ञान और सूर्य तथा स्वकीय इन्द्रियों के प्रकाश द्वारा बढ़िया देख लिये गये देश में गमन कर रहो ईर्यापथशुद्धि है। ईर्यापथ शुद्धि अनुसार अतिशीघ्र चलना, अतिविलम्ब से चलना संभ्रान्त (डमाडोल विचार से या प्रमत्त होकर) गमन, आश्चर्य चकित होते जाना, खेलते कूदते चलना, अंगविकार करते हुये चलना, चलते समय सन्मुख दिशा से अन्य दिशाओं का अवलोकन

करना, अकडते, मटकते, घूमते, नाचते हुये चलना आदि दोषों से रहित गमन किया जाता है। उस ईर्यापथशुद्धि के होते सन्ते संयम उसी प्रकार प्रतिष्ठित हो जाता है जैसे कि बढिया नीति को पालते हुये प्रभु के विभूति या धन की प्रतिष्ठा बढ जाती है।

भिक्षाशुद्धिः परीक्षितोभयप्रचाराप्रमृष्टपूर्वापरस्वांगदेशविधाना आचारसूत्रोक्त-कालदेशप्रवृत्तिप्रतिपत्तिकुशला लाभालाभमानापमानसमानमनोवृत्तिः लोकगर्हितकुलपरि-वर्जनपरा चंद्रगतिरिव हीनाधिकगृहा विशिष्टोपस्थाना, दीनानाथदानशालाविवाहयजनगेहादि-परिवर्जनोपलक्षित.दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना आगमविधिना निर-वद्याशनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला, तत्प्रतिबद्धा हि चरणसंपत्गुणसंपदिव साधुजनसेवानिबन्धना।

पांचमी भिक्षाशुद्धि यों बन सकती हैं कि भले प्रकार परीक्षा कर देख लिया गया है जाने, आने दोनों मार्गों का प्रचार जिसमें अथवा बढिया देखकर मुनि दोनों पाओं से प्रचार करें या दोनों नेत्रों से दोनो ओर देखते हुये संयमी चलें। और अपने अङ्गों के धरने योग्य पहिले पिछले देशों को भले प्रकार शुद्ध कर लेने की विधि में दत्तावधान रहें तब भिक्षाशुद्धि होगी। आचारशास्त्र में कहे गये उचित काल और समुचित देश की प्रवृत्तियों का परिज्ञान करने में कुशल बने रहना भिक्षाशुद्धि है। भोजन का लाभ हो जाने पर या अलाभ हो जाने पर राग, द्वेष, नहीं करते हुये मनोवृत्ति को समान बनाये रखना और किसी प्रकार कोई सम्मान करे या अपमान करे दोनों अवस्थाओं में एकसी मानसिक प्रवृत्ति रखना भिक्षाशुद्धि है। लोक में निन्दित माने गये कुलों का परित्याग करने में तत्पर हो रहा मुनि भिक्षा की शुद्धि पाल सकेगा। चन्द्रमा की गति जिस प्रकार कभी हीन ग्रहों पर होती है और कभी अधिक ग्रहों पर प्रवर्तती है अथवा उसकी छाया घरों पर जैसे न्यून अधिक पडती है उसी प्रकार मुनिमहाराज भिक्षा के लिये कभी थोड़े घरों में जाते हैं कभी अधिक घरों तक भी पर्यटन करते हुये, किसी एक घर में भिक्षा पा लेते हैं। निर्धन, अप्रतिष्ठित या सधन प्रतिष्ठित दोनों के घर समान वृत्ति से जाते हैं। गरीब, अमीर के घर पर विशेषता को नहीं मानकर उपस्थित होते हैं। दातार गृहस्थ के घर जाकर अधिक देर तक भी नहीं ठहर सकते हैं जिससे कि दीनता या याचकत्व प्रकट होय और अत्यल्प भी नहीं ठहरे जिससे कि दानी को पात्र के आने का पता भी न चले। अतः भिक्षाके लिये दानी के घर पर विशिष्ट काल तक ही मुनी का ठहरना अभीष्ट है। इसी प्रकार रसोईघर या आंगन प्रदेशोंमें ही मुनि ठहर सकते हैं। भण्डारगृह, शयनगृहमें मुनि का ठहर जाना अनुचित है। भिक्षा की शुद्धि रखनेवाले मुनि को दीन (गरीबा) और अनाथ के घर भिक्षा नहीं

लेनी चाहिये। मुनि को दानशाला, विवाहस्थान, पूजाघर और क्रीडास्थान, कारागृह, आदि स्थलों पर भिक्षा के परित्याग रखने का पूरा लक्ष्य रखना पडता है। नाटकेपन को प्रवृत्ति से रहित भिक्षा होनी चाहिये। त्रस स्थावर जीवों से रहित प्रासुक आहार "प्रगता असवो यस्मात्" के ढूंढने में ही चित्त का ध्यान रक्खा जाय। बढिया पुष्ट, गरिष्ठ, स्वादु-भोजन की प्राप्ति का लक्ष्य नहीं रक्खा जाय। शास्त्रविहित मार्ग से निर्दोष हो रहे भोजन की परिप्राप्ति हो जाने से शरीर या प्राणों की यात्रा बनी रहे मात्र इतना ही भोजन का फल समझा जाय ये सब भिक्षाशुद्धि के लिये करने पड़ते हैं। उस भिक्षाशुद्धि के साथ ही अविनाभाव रख रही चारित्रसम्पत्ति है, जैसे कि साधुजनों की सेवा को कारण मानकर सेवक जनों को गुणों की सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार भिक्षाशुद्धि और चरित्रशुद्धि की व्याप्ति बन रही है "यत्र यत्र भिक्षाशुद्धिस्तत्रतत्र चरणसम्पत्तिः"।

लाभालाभयोः सुरसविरसयोश्च समसंतोषा भिक्षेति भाष्यते, यथा सलीलसालंकारवरयुवतिभिरुपनीयमानघासो गौर्न तदंगगतसौंदर्यनिरीक्षणपरः तृणमेवात्ति यथा वा तृणलवं नानादेशस्थं यथालाभमभ्यवहरति न योजनासंपदमवेक्षते, यथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजनमृदुललितरूपवेषविलासविलोकननिरुत्सुकः शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेषं वानपेक्षमाणः यथागतमश्नातीति गौरिव गोर्वाचारो गोचर इति च व्यपदिश्यते तथा गवेषणेति च।

भिक्षा का लाभ हो जाने में और भिक्षा का लाभ नहीं होने में समान संतोष रखने वाली तथा सुन्दर रस वाले व्यञ्जनों के खाने में और रसरहित पदार्थों के भक्षण में समान संतोष धार रही वह भिक्षा यों बखानी गई है अथवा लाभ, अलाभ, में नीरस, सरस, में समान संतोष को धारने वाले मुनीन्द्रों ने वह भिक्षा यों बखानी है। ऐसी भिक्षा के गोचार, अक्षम्रक्षण, उदराग्निप्रशमन, भ्रामरी, श्वभ्रपूरण ये पाँच भेद हैं। पहिली गोचरी वृत्ति इस प्रकार है कि जैसे यौवनलोलाओं और श्रेष्ठ भूषणों से सहित हो रही सुन्दरी युवतियों करके लाया गया है घास जिसके लिये ऐसी गाय उस नवोढा के अङ्गों में प्राप्त हुये सौन्दर्य का निरीक्षण करने में तत्पर नहीं होती हुई केवल तृणों को ही खाने लग जाती है अथवा जिस प्रकार गाय (गोवलीवर्द न्यायेन बैल भी) नाना देशों में स्थित हो रहे तृणों के टुकडों को जैसा तैसा तृणलाभ होता जाता है तदनुसार गोचर भूमि में भ्रमण कर केवल खा ही लेती है कोई घास की योजना यानी रचनादिन्यास आदि शोभा को नहीं नीचे देखती फिरती है उसी प्रकार संयमी भिक्षु भी भिक्षा को परोसने वाले स्त्री, पुरुषों के कोमल शृंगारोचितचेष्टाओं सुन्दररूप, वेष, (पहनावा) विलास (शृंगारोचित चेष्टायें)

भूषण शब्द आदि के देखने, निरखने, सुनने, में उत्सुक नहीं हो रहा सन्ता तथा सूखे, गीले, आहार की विशेष रचनाओं की नहीं अपेक्षा करता हुआ केवल यथायोग्य प्राप्त हुये जैसे भी शुद्ध भोजन को खा लेता है, यों खाने में गाय का सादृश्य हो जाने से गाय के समान मुनि हैं अथवा गौ के समान चार यानी भोजन या भोजन के लिये गमन है "चर गतिभक्षणयोः"। इस कारण इस भोजन वृत्ति का नाम "गोचार" इस प्रकार व्यवहार में बखाना गया है और तिसी प्रकार गौ के समान भक्ष्य पदार्थ का शोधना, ढूंढना होने से "गवेषणा" यों भी कहा दिया जाता है।

यथा शकटं रत्नभारपरिपूर्णं येन केनचित् स्नेहेनाक्षलेपनं कृत्वाभिलषितं देशान्तरं वणिग्जनो नयति तथा मुनिर्गुणरत्नभरितां तनुशकटीमनवद्यभिक्षयायुरक्षम्रक्षणेनाभिप्रेतसमाधिपत्तनं प्रापयतीति अक्षम्रक्षणमिति च नाम निरूढं।

मुनि की दूसरी अक्षम्रक्षण भोजनवृत्ति ऐसी है कि जिस प्रकार रत्न के बोझ से भरपूर हो रहे छकडा गाडी को व्यापारी वैश्य मनुष्य जिस किसी भी ऐरे गैरे तेल से धुरा आगन का लेप कर अभीष्ट देशान्तरों को ले जाता है तिसी प्रकार मुनि भी गुणस्वरूप रत्नों से भरी हुई शरीरस्वरूप गाडी को निर्दोष हो रही सरस या नीरस भिक्षा द्वारा आयुःस्वरूप रथांग का तैललेपन करके अभीष्ट हो रहे समाधि नामक नगर (रत्नों के क्रय विक्रय का शहर) को प्राप्त करा देता है। इस उपमानोपमेय या रूप्यरूपक अनुसार इस भिक्षा का नाम अक्षम्रक्षण इस प्रकार नियम से रूढ हो रहा है। अक्षस्य रथाङ्गस्य म्रक्षणं स्नेहलेपनमिव अक्षम्रक्षणं।

यथा भांडागारे समुत्थितमनलमशुचिना शुचिना वा वारिणा शमयति गृही तथा यतिरपीति उदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते, दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिः भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते, येन केनचित्प्रकारेण श्वभ्रपूरणवदुदरगर्तमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेण वाहारेणेति श्वभ्रपूरणमिति च निरुच्यते।

मुनिमहाराज की तीसरी उदराग्निप्रशमन नाम की भिक्षावृत्ति यों है कि जिस प्रकार सोना, रुपया, रत्न, अन्न के कोठार या भण्डारे में खूब लग उठी आग को शुद्ध अथवा अशुद्ध जल करके गृहस्थ शांत कर लेता है, उसी प्रकार संयमी भी शुद्ध खाद्य पेय द्वारा पेट की आग को प्रशान्त कर लेता है चाहे वह खाद्य पदार्थ नीरस, सरस, रूखा, चिकना, कैसा भी हो इस कारण इस भोजनवृत्ति का नाम उदराग्निप्रशमन इस प्रकार शब्दनिरुक्ति

पूर्वक कहा जा रहा चला आया है। संयमी की चौथी भोजन वृत्ति का नाम भ्रामरी यों पडा है कि भौंरा जैसे पुष्पकलिकाओं को कुछ भी बाधा नहीं देकर उनमें से मकरंद ले लेता है उसी प्रकार दाता जनों को बाधा नहीं पहुंचा कर चतुर मुनि भौंरे के समान आहार करता है इस कारण इस भिक्षावृत्ति की भ्रमरआहार या भ्रामरी ऐसी भी जैनसिद्धान्त में परिभाषा की गई है। भ्रमर किसी भी मञ्जरी को यत्किञ्चित् क्लेश नहीं पहुंचाता है और अनेक पुष्पों से पराग या रस को यथोचित स्वल्प ले लेता है। मुनि वृत्ति भी यही रूपक है। पांचवे भिक्षाभोजन स्वभ्रपूरण का तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी कूडा, कचरा, मिट्टी, कंकड, पत्थर आदि प्रकार करके जैसे गड्ढे को पूर दिया जाता है, उसी प्रकार अनगार मुनि भी अपने पेटरूप गड्ढे को स्वादसहित या स्वादरहित कैसे भी आहार करके भरपूर कर लेता है। इस कारण प्रकृतिप्रत्ययों के अर्थ अनुसार स्वभ्रपूरण इस प्रकार संज्ञा कही जा रही है। शब्द की निरुक्ति कर यही अर्थ निकाला गया है।

प्रतिष्ठापनशुद्धिपरः संयतः नखरोमसिंघाणकनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च विदितदेशकालो जन्तूपरोधमन्तरेण प्रयतते।

भिक्षाशुद्धि का विवरण कर अब ग्रन्थकार छठी प्रतिष्ठापना शुद्धि को कहते हैं कि प्रतिष्ठापना समिति को शुद्ध बनाने में तत्पर हो रहा संयमी मुनि देश काल की व्यवस्था को जानता हुआ अपने, नख, केश, नासिकामल, थूक, वीर्य, मल, मूत्र, पसीना आदि को शुद्ध स्थल पर क्षेपने में और जीवित या मृत, देह के, धरने या परित्यागने में प्राणियों को बाधा या उनके स्वतन्त्र विचरण में विघ्न नहीं होय इस ढंग से प्रयत्न करता है। राजकीय नियम अनुसार जहाँ मल, मूत्र, क्षेपण का निषेध है लौकिक स्त्री, बालक, अथवा पशुपक्षियों के जो बैठने, सोने, आने, जाने के स्थान हैं वहां मुनि को मल, मूत्र, नहीं क्षेपना चाहिये। अपनी देह को भी योग्य स्थान पर धरे। सब से बडी बात यह है कि जीवों को बाधा नहीं पहुंचे, किस देश में, किस काल में कहां कहां जीव उपजते हैं कहां विचरते हैं यह मुनि को परिज्ञान रहना चाहिये, तभी प्रतिष्ठापना में शुद्धि आ सकेगी।

संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्रीवधिकचौरपानशौंडशाकुनिकादिपापजनवासाः वाद्याः (वर्ज्याः) शृंगारविकारभूषणोज्वलवेशवेश्याक्रीड़ाभिरामगीतनृत्यवादित्राकुलशालादयः परिहर्तव्याः। अकृत्रिमा गिरिगुहातरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासाः अनात्मोद्देशनिर्वर्तिताः निरारम्भाः सेव्याः।

सातवी सोने और बैठने की शयनासनशुद्धि में तत्पर हो रहे संयमी करके

ऐसे स्थान छोड़ देने चाहिये जहाँ कि स्त्रीजन और हत्यारे, चोरों, मदिरा पीने वाले, जुआरी तथा पक्षियों को मारने वाले, मांसविक्रेता, व्यभिचारी, आदिक पापीजनों का आवास होय तथा शृंगार को बढानेवाली शालायें, इन्द्रियों में विकारों को उपजाने वाले घर, भूषणों के स्थान, उज्वल पहनावे के स्थल, वेश्याओं के अड्डे, खेलने के क्षेत्र, सुन्दर गायनप्रदेश, नृत्य, वादित्र (बाजे) आदि से आकुलित हो रहीं शालायें भी मुनि को छोड देनी चाहिये ऐसे स्थलों पर आत्मीय ध्यान करने में चित्त नहीं लग सकता है। हाँ, किसी जीव के नहीं बनाये हुये अकृत्रिम हो रहे ये पर्वतों को गुफायें, वृक्षों के कोटर (खोखले) शिलातल आदिक स्थान सेवने योग्य हैं, तथा मनुष्यों के बनाये हुये कृत्रिमस्थान तो सूने घर, झोंपडी, कोठो आदिक, और जो छोड दिये गये या छुडा दिये गये आवास (स्थल) अथवा जो अपने उद्देश से नहीं बनाये गये ऐसे वसतिका धर्मशाला आदिक प्रदेश तथा जिनमें कोई कृषी, वाणिज्य, विवाहविधि नहीं होती हो अधिक आरम्भ, प्रारम्भ नहीं रचा गया होय ऐसे स्थान मुनि को सेवने योग्य हैं। ऐसा लक्ष्य रखने से शयनासन में शुद्धि हो जाती है।

वाक्यशुद्धिः पृथिवीकायिकारंभादिप्रेरणरहिता परुषनिष्ठुरादिपरपीडाकरण-प्रयोगनिरुत्सुका व्रतशीलदेशनादिप्रधानफला हितमितमधुरमनोहरा संयतयोग्या तदधिष्ठाना हि सर्वसंयत इति शुद्धचष्टकमुपदिष्टं भगवद्भिः संयमप्रतिपादनार्थं। ततो निरवद्यसंयमः स्यात्।

मुनिमहाराज के वाक्यशुद्धि तो यों पलती है कि पृथिवीकायिक जीव, जल-कायिक जीव आदि का आरम्भ करना, समारम्भ करना, आदि की प्रेरणा से रहित वचनप्रवृत्ति होनी चाहिये अर्थात् मट्टी को खोदो, यहाँ मट्टी भरो, इस सरोवर के पानी को सुखाओ, यहाँ नहर चलाओ, वन में आग लगाओ, ऐसे आरम्भ और हिंसा को बढाने वाले वचनों को मुनि नहीं बोलें, तथा दूसरों की पीड़ा को करने वाले कठोर, रूखे, निन्दाकारक, तिरस्कारक, आदिक वचनों का प्रयोग करने में उत्सुकता रहित मुनि होय। संयमी के उच्चारण का व्रतों का उपदेश, शीलों के धारने का आदेश, पापों के परित्याग का शिक्षण देना आदिक ही प्रधान फल होना चाहिये। सम्पूर्ण प्राणियों को हितस्वरूप, परिमित, मीठे, मनोहर वचन कहना ही संयमी के योग्य हैं। उस वाक्यशुद्धि का आधार पाकर ही लौकिक, पारलौकिक, सम्पूर्ण सम्पत्तियें प्राप्त हो जाती हैं। यों उस अपहृत संयम को समझाने के लिये भगवान् जिनेन्द्रदेव और आरातीय आचार्यों ने इस प्रकार आठ शुद्धियों का उपदेश किया है, उस से निर्दोष संयम पल जायगा।

तपो वक्ष्यमाणभेदं । पारग्रहनिवृत्तिस्त्यागः । अभ्यंतरतपोविशेषोत्सर्गग्रहणात् सिद्धिरिति चेन्न, तस्यान्यार्थत्वात् । शौचवचनात्सिद्धिरिति चेन्न, तत्रासत्यपि गर्धोत्पत्तेः दानं वा स्वयोग्यं त्यागः ।

कर्मों का क्षय करने के लिये जो तपा जाय वह तप है, निकट भविष्य में तप के बारह भेद कहे जाने वाले हैं । चेतन और अचेतन परिग्रहों की निवृत्ति कर देना त्यागधर्म है । यहाँ कोई शंका करता है कि छः प्रकार का अभ्यन्तर तप कहा जायगा उसमें उत्सर्ग एक तप का विशेष भेद है । उत्सर्ग या व्युत्सर्ग का अर्थ त्याग ही है । अतः उस उत्सर्ग का ग्रहण कर देने से ही इस त्यागधर्म का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है यहां धर्मों में त्याग नाम का प्रकार रखना व्यर्थ है । आचार्य महाराज कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि तप में पड़े हुये उस उत्सर्ग का अन्य प्रयोजन है कुछ नियत काल तक सम्पूर्ण पदार्थों का त्याग कर देना उत्सर्ग का लक्षण है और काल का नियम नहीं कर शक्ति अनुसार जो दान किया जाय वह त्याग धर्म है । पुनः शंका उठाई जाती है कि शौचधर्म का कथन हो चुका है अतः शौच में अन्तर्भाव हो जाने से पुनः त्याग का प्रतिपादन व्यर्थ है । त्यागने में भी लोभ का त्याग है । शौच धर्म में भी लोभ का परित्याग किया जाता है । अतः शौचधर्म के कथन से ही त्याग के प्रयोजन की सिद्धि हो गयी ग्रन्थकार कहते हैं । कि यह भी कहना प्रशस्त नहीं है । कारण कि उस शौचधर्म में तो परिग्रहके नहीं होने पर भी लोलुपता उपज बैठती है । उस लोलुपता की निवृत्ति के लिये शौच कहा गया है । और यह त्याग तो फिर अपने निकट वर्त रहे पदार्थ का थोड़ा बहुत यथायोग्य परित्याग करना है अथवा संयमी को अपने योग्य ज्ञान, दीक्षा, धर्म वृद्धि, प्रायश्चित्त आदि का दान कर देना त्यागधर्म कहा जाता है ।

अमेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिंचन्यं । अनुभूतांगनास्मरणकथाश्रवणस्त्रीसंशक्त-शयनासनादिवर्जनात् ब्रह्मचर्यं, स्वातंत्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति वा । अन्वर्थसंज्ञाप्रतिपादनार्थत्वाद्वाऽपौनरुक्त्यं । गुप्त्याद्यन्तर्भूतानामपि संवरधारणसामर्थ्याद्धर्म इति संज्ञाया अन्वर्थता-प्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तेरित्यर्थगतेः । तद्भावनाप्रवणत्वाद्वा सप्तप्रकार प्रतिक्रमणवत्, सप्तप्रकारं हि प्रतिक्रमणमीर्यापथिकरात्रिदिवीयपाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकोत्तमस्थानलक्षणत्वात् । तच्च गुप्त्यादिप्रतिष्ठापनार्थं यथा भाव्यते तथोत्तमक्षमादिदशविधधर्मोपि । ततस्तत्रांतर्भूतस्यापि पृथग्वचनं न्याय्यं । उत्तमविशेषणं दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थं । सर्वेषां स्वगुणप्रतिपक्ष-दोषभावनात्संवरहेतुत्वं । कथमित्याह—

ग्रहण कर लिये गये शरीरादि में "यह मेरा है" इस प्रकार के अभिप्रायों का निवारण कर देना आकिञ्चन्य धर्म है। अनुभव कर ली जा चुकी स्त्री का स्मरण करना कि वह अनेक कला और गुणों से परिपूर्ण थी अथवा स्त्रियों की कथा को सुनना, वाचना, रतिप्रिय स्त्रियों के संग में रहकर सोना, बैठना, स्त्रियों के सुन्दर अंगों का देखना, पौष्टिक पदार्थ खाना, शारीरिकसंस्कार आदि का परित्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य धर्म होता है अथवा धर्म को स्वतन्त्रतया पालने के लिये आप ही गुरु हो रहे परम ब्रह्म शुद्ध आत्मा में चर्या रखना यह भी ब्रह्मचर्य है। ऊपर किसी में किसी का अन्तर्भाव हो जाने की जो शंकायें की गयी हैं उन सभी का परिहार यों कर दिया जाय कि यद्यपि गुप्ति, समिति, तप, आदि में अन्तर्भूत हो चुके भी कतिपय धर्मों का यहां उपदेश कर दिया है तो भी अन्वर्थसंज्ञापने की प्रतिपत्ति हो जाना अन्यथा अनुपपन्न है ऐसी अर्थ की गति हो जाने से पुनरुक्तपना नहीं है। भावार्थ—धारणा सामर्थ्यात् धर्मः यह धर्मशब्द का प्रकृति और प्रत्यय से अर्थ निकल आता है। उन धर्मों की संवर के धारने में सामर्थ्य है अतः धर्म संज्ञा अन्वर्थ है। दूसरी बात यह भी है कि सात प्रकार प्रतिक्रमणों के समान उन दश प्रकार के धर्मों की भावना भी गुप्ति आदि के पालने में तत्पर हैं, अतः उनमें अन्तर्भूत हो चुकों का भी प्रयोजनवश पृथक् उपदेश किया जाता है। सात प्रकार का प्रतिक्रमण तो यों हैं कि १ ईर्यापथ संबन्धी २ रात सम्बन्धी ३ दिनसम्बन्धी ४ पखवाडा सम्बन्धी ५ चातुर्मास में होनेवाला ६ वार्षिक ७ उत्तमस्थान सम्बन्धी या उत्तम अर्थ सम्बन्धी, यों सात प्रकार का वह प्रतिक्रमण अर्थात् मेरे खोटे दोष मिथ्या हो जाय ऐसा अंतरंग से अभिप्राय प्रकट करना लक्षित किया जाता है। यह जैसे गुप्ति, समिति, आदि को प्रतिष्ठित करने के लिये भावित किया जाता है उसी प्रकार उत्तमक्षमा आदिक दश प्रकार के धर्म भी गुप्ति आदि में प्रतिष्ठित बने रहने के लिये भावे जाते हैं। तिस कारण से उन गुप्ति आदिकों में गर्भित हो चुके भी कतिचित् धर्मों का यहां पृथक् निरूपण करना न्यायोचित है।

दशों धर्मों में उत्तम विशेषण तो देखे जा रहे लौकिक प्रयोजनों का सर्वथा परिहार करने के लिये है अर्थात् लौकिक प्रयोजन को साधने के लिये यदि क्षमा या मार्दव आदि धारे जायेंगे तो वे उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि नहीं होंगे, उनसे कर्मों का संवर नहीं हो सकेगा। सभी धर्मों को पालते हुये स्व में गुण और अपने प्रतिपक्ष में दोष की भावना भाई जाय जैसे कि ब्रह्मचर्य का पालन करना इह लोक और परलोक में सुखसंपादक है। ब्रह्मचारी की सभी लोग प्रतिष्ठा करते हैं। उसका प्रतिपक्ष हो रहा व्यभिचार करना

बड़ा भारी दोष है चारों पुरुषार्थों का नाश करने वाला है लोक में व्यभिचारी की निन्दा होती है। इसी प्रकार क्षमा क्रोध, मार्दवमान, आर्जव माया, आदि में गुण दोषों की भावना करने से कर्मों के संवर का हेतुपना परिपुष्ट होता है। वह उपरिम वक्तव्य किस प्रकार सिद्ध हो जाता है? ऐसी जिज्ञासा उत्थित होने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक को स्पष्ट कह रहे हैं।

दृष्टकार्यानपेक्षाणि क्षमादीन्युत्तमानि तु।
स्याद्धर्मः समितिभ्योन्यः क्रोधादिप्रतिपक्षतः॥ १॥

लोक में देखे जा रहे अभिप्रेत कार्यों की नहीं अपेक्षा कर किये गये क्षमा, मार्दव, आर्जव, आदिक धर्म तो उत्तम कहे जावेंगे और जो किसी लौकिकप्रयोजनवश क्षमा आदि पाले गये हैं वे क्षमा, मार्दव, आर्जव, आदि भले ही समझे जाय। किन्तु उत्तमक्षमा, उत्तममार्दवादि नहीं कहे जा सकते हैं। क्रोध, मान, आदि के प्रतिपक्षी हो जाने से ये धर्म उन समितियों से न्यारे हैं।

क्रोधादिप्रतिपक्षत्वमित्येव धर्मः, उत्तमायाः क्षमायाः क्रोधप्रतिपक्षत्वात् मार्दवार्जवशौचानां मानमायालोभविपक्षत्वात् सत्यादीनामनृतासंयमातपोऽत्यागममत्वाब्रह्मप्रतिकूलत्वाच्च। स हि धर्म उत्तमक्षमादीन्येव समितिभ्योन्यः सूत्रितः। नन्वत्र व्यक्तिवचनभेदाद्वैलक्षण्यमिति चेन्न, सर्वेषां धर्मभावाव्यतिरेकस्यैकत्वादाविष्टलिंगत्वाच्च। कस्य पुनः संवरस्य हेतुर्धर्म इत्याह —

क्रोध आदि से प्रतिपक्षपने की भावना करना इस ही कारण ये धर्म हैं। क्योंकि उत्तमक्षमा को क्रोध का प्रतिपक्षपना प्रसिद्ध है। मार्दव, आर्जव और शौच धर्मों को मान, माया और लोभ का विपक्षपना सिद्ध है तथा सत्य, संयम, तपः, त्याग आदि धर्मों को झूंठ, असंयम, अतपस्या, अत्याग, ममत्वभाव, अब्रह्म, इन दोषों का प्रतिकूलपना होने से विपक्षपना निर्णीत है। अतः वह धर्म नियम से उत्तम क्षमा आदि स्वरूप ही हो रहा संता पूर्वोक्त समितियों से न्यारा इस सूत्र द्वारा कहा गया है।

यहाँ कोई शंका करता है कि उद्देश्यदल और विधेयदल में समान विभक्ति और समान वचन होना चाहिये। किन्तु यहाँ दश उद्देश्य व्यक्तियों का एक धर्म व्यक्ति के साथ वचनभेद हो रहा देखा जाता है। ब्रह्मचर्याणि बहुवचन है और धर्मः एकवचन है। नपुंसक लिंग और पुल्लिगका भी भेद है। अतः यह सूत्र का कथन विलक्षण है। शब्द के लक्षण

शास्त्र से विरुद्ध पडता है। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना। शब्दशास्त्र को अर्थतात्पर्य अनुसार चलना चाहिये। उत्तमक्षमा आदि सबके धर्मपने का अभेद हो जाना एक है अतः दशों उद्देश्यों में एक धर्मपने का विधान कर दिया है। एक बात यह भी है कि ब्रह्मचर्य शब्द अपने नपुंसक लिंग को पकडे हुये हैं और धर्म शब्द अपने पुल्लिग के आवेश में जकडा हुआ है। बहुव्रीहि समास के सिवाय ये अजहल्लिंग माने गये शब्द अपने लिंग को कभी नहीं छोडते हैं। अतः वचन और लिंग का इस सूत्र में सामानाधिकरण्य नहीं है। शब्दों के नियत लिंग भी किसी अर्थ की भित्ति पर अवलम्बित हैं। सिद्धान्तित अर्थ से शून्य हो रहे कोरे व्याकरण का कोई मूल्य नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि ये धर्म फिर किस किस संवर के कारण हो रहे हैं? बताओ। ऐसी बुभुत्सा उपजने पर श्री विद्यानन्द आचार्य इस अगली वार्तिक को कह रहे हैं।

तन्निमित्तास्रवध्वंसी यथायोगं स देशतः।
संवरस्य भवेद्धेतुरसंयतदृगादिषु ॥ २ ॥

उन क्रोध, मान, आदि निमित्तों द्वारा परिस्पन्द आत्मक योग अनुसार जो कर्म आने वाले थे, चौथे असंयत सम्यग्दृष्टि, पांचमे संयतासंयत, आदि गुणस्थानों में यथायोग्य पाले जा रहे वे धर्म उन कर्मों का एकदेश रूप से संवर कर देने के हेतु हो जाते हैं। सम्पूर्ण कर्मों का संवर तो चौदहवें गुणस्थान में है, वह सर्वदेश से संवर है। हाँ, चौथे आदि गुणस्थानों में कतिपय कर्मों का ही संवर हो रहा है अतः यह एकदेश संवर समझा जायगा।

क्रोधादिनिमित्तकास्रवध्वंसीन्युत्तमक्षमादीनि निश्चितानीति तत्स्वभावो धर्मस्तन्निमित्तास्रवप्रध्वंसी कथ्यते। स यथायोगं देशतः संवरस्य हेतुर्भवेदसंशयमेव असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु तत्संभवात्। तथाहि असंयतसम्यग्दृष्टौ तावदनंतानुबंधिक्रोधादिप्रतिपक्षभूताः क्षमादयः संभवंत्येव। संयतासंयते वानंतानुबंध्यप्रत्याख्यानावरणक्रोधादिविपक्षाः, प्रमत्तसंयतादिषु सूक्ष्मसांपरायांतेषु पुनरनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणप्रतिबंधिनः, उपशांतकषायादिषु समस्तक्रोधादिसपत्नाः संगच्छंते विरोधाभावात्। एवं संयमादयोपि प्रमत्तसंयतादिषु यथायोगं संभवंतः प्रतिपत्तव्याः। ते च स्वप्रतिपक्षहेतुकास्रवनिरोधनिबंधनत्वाद्देश संवरस्य हेतवः स्युः।

जिनके निमित्तकारण क्रोध, मान, आदि हैं उन आस्रवों का ध्वंस करने वाले उत्तमक्षमा, मार्दव, आदि धर्म हैं यह निर्णीत कर दिया गया है (व्याप्ति) इस कारण उन क्षमादि स्वरूप हो रहा धर्म उन क्रोध आदि को निमित्त पाकर आने वाले आस्रव का प्रध्वंस करने वाला कहा जाता है। वह धर्म अनुकूल योग्यता अनुसार एकदेश से संवर करने का हेतु हो जायगा। यह सिद्धान्त भी संशयरहित ही है। संयम से रहित और सम्यग्दर्शन से सहित ऐसे असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान तथा पांचवें आदिक गुणस्थानों में वह संवर भले प्रकार संभवता है।

उसी को स्पष्ट कर ग्रंथकार यों दिखलाते हैं कि मोक्षोपयोगी सब से प्रथम चौथे गुणस्थान में अनंतानुबंधी क्रोध आदि का उदय नहीं है। अतः असंयत सम्यग्दृष्टि अवस्था में अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि के प्रतिपक्षभूत क्षमा, मार्दव, आदिक तो भले प्रकार हो ही रहे हैं। तथा त्रसवध का त्यागी होने से संयत, और स्थावर वध का त्यागी न होने से असंयत, ऐसे संयतासंयत नामक पांचवें गुणस्थान में अनन्तानुबंधी चौकडी और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि चौकडी के विपक्ष हो रहे उत्तम क्षमादिक विद्यमान हैं। प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान को आदि लेकर सूक्ष्मसांपराय नामक दशमे पर्यन्त पांच गुणस्थानों में फिर अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण इन बारहों कषायों के शत्रुभूत प्रतिबंधी क्षमादिक भाव जग रहे हैं।

ग्यारहवें उपशांतकषाय आदि गुणस्थानों में अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन इन सब के क्रोध आदि के सपत्न यानी शत्रुभूत क्षमादि गुण भले प्रकार संगत हो रहे हैं। कोई विरोध करने वाला नहीं है। जिस प्रकार क्रोध, मान, माया लोभ के प्रतिपक्ष हो रहे क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच धर्मों का गुणस्थानों में सद्भाव है, उसी प्रकार असंयम, अतप, आदि के प्रतिपक्षी हो रहे संयम, तप, आदि धर्म भी छठे प्रमत्तसंयत सातमे अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में यथायोग्य संभव रहे समझ लेने चाहिये तथा वे उत्तमक्षमा आदिक और संयम आदिक दशों धर्म अपने अपने प्रतिपक्ष हो रहे क्रोध आदि को हेतु मान कर होने वाले आस्रव के निरोध का कारण हो जाने से देशसंवर के हेतु हो जायेंगे, यही कारिका में कहा गया है।

अथानुप्रेक्षाप्रतिपादनार्थमाह—

धर्मों का निरूपण करने के अनन्तर सूत्रकार महाराज अब अनुक्रमप्राप्त अनुप्रेक्षाओं की प्रतिपत्ति कराने के लिये अग्रिमसूत्र का उच्चारण कर रहे हैं।

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यातत्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

अनित्यपन का विचार करना, कोई के नहीं शरण होनेपन का चिन्तन करना, संसार का विचार करना, अकेलेपन का चिन्तन करना, शरीरादि से आत्मा के भिन्नपने का विचार करना, शरीरादि के अशुद्धपन का चिन्तन करना, आस्रव की चिन्ता करना, संवर की भावना भाना, निर्जरा तत्त्व की अनुप्रेक्षा करना, लोकरचना का चिन्तन करना, सम्यग्ज्ञान का दुर्लभपना भावना, श्रेष्ठधर्म के बढ़िया व्याख्यान हो चुकने की पुनः पुनः भावना करना कि श्री जिनेन्द्र भगवान् ने बहुत अच्छा कार्य किया, जो धर्म का व्याख्यान कर दिया, गुणस्थान, मार्गणाओं का निरूपण किया, यदि वे अन्तकृत्केवली के समान उपदेश दिये विना ही मोक्ष चले जाते तो हम क्या कर लेते, श्री अरहंत के उस बढिया धर्म-व्याख्यान से अनन्तानन्त जीव मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ऐसा धर्म + सु + आङ् + ख्या + क्त + त्व, धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा इस बारहमीं अनुप्रेक्षा का विशाल अर्थ है। एक अच्छी वैद्य-विद्या का उपदेश देनेवाला पण्डित कुछ काल के लिये कतिपय जीवों का उपकार कर देता है, उसकी प्रशंसा की जाती है तो फिर अनेक जन्म, जरा, मृत्यु, महारोगों से पीडित हो रहे अनन्तानन्त प्राणियों को अक्षयअनन्तकाल तक नीरोग बना देने वाले जिनेन्द्र के निर्दोष धर्मोपदेश की महिमा का निरूपण करना तो अशक्यानुष्ठान ही है।

इस प्रकार उक्त बारहों चिन्तन के पीछे चिन्तन पुनः चिन्तन यों भावनायें करना बारह अनुप्रेक्षायें हैं। एक बार हुये ज्ञान को चिन्तन या ध्यान नहीं कहते हैं। किन्तु बीसों, सैकडों ज्ञानों की उसी विषय में अंश तदंशों या तत्सम्बन्धी अन्य भी पदार्थों को ग्रहण कर रही लडी को भावना या ध्यान कहा जाता है। विशेष प्रकार के ज्ञानों को ही भावना मानना चाहिये।

उपात्तानुपात्तद्रव्यसंयोगव्यभिचारस्वभावोऽनित्यत्वं, क्षुभितव्याघ्राभिद्रुतमृगशावकवज्जन्तोर्जरामृत्युरुजांतके परित्राणाभावोऽशरणत्वं, द्रव्यादिनिमित्तादात्मनो भवांतरावाप्तिः संसारः, जन्मजरामरणावृत्तिमहादुःखानुभवनं प्रतिसहायानपेक्षत्वमेकत्वं, शरीरव्यतिरेको लक्षणभेदोन्यत्वं, अशुभकारणत्वादिभिरशुचित्वं, आस्रवसंवरनिर्जराग्रहणमनर्थकमुक्तत्वादिति चेन्न, तद्गुणदोषान्वेषणपरत्वादिह तद्ग्रहणस्य। लोकसंस्थानादिविधिर्व्याख्यातः, रत्नत्रय(स्व)भावादिलाभस्य कृच्छ्रप्रतिपत्तिर्बोधिदुर्लभत्वं, जीवस्थानगुणस्थानानां गत्यादिषु